

Chapter अठारह

वर्णाश्रम धर्म का वर्णन

इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के कर्तव्यों तथा उनके सम्बन्धित प्रगति के उपयुक्त धार्मिक प्रथाओं का वर्णन किया है।

जो व्यक्ति वानप्रस्थ स्वीकार करता है उसे अपनी पत्नी को अपने पुत्रों की देखरेख में घर पर ही छोड़ जाना चाहिए अथवा अपने साथ लेते जाना चाहिए और जीवन के तीसरेपन को जंगल में शान्त मन से बिताना चाहिए। उसे जंगल में उगने वाले फल, कन्दमूल इत्यादि खाने चाहिए; कभी आग में पका अन्न खाना चाहिए तो कभी समय पर पकने वाले फल ग्रहण करने चाहिए। उसे वृक्ष की छाल, तृण, पत्तियाँ अथवा मृगचर्म के वस्त्र धारण करने चाहिए। उसके लिए अनिवार्य है कि वह बाल, दाढ़ी या नाखून न काटे और तपस्या करे। न ही वह अपने अंगों से धूल हटाने का विशेष प्रयास करे। उसे नित्य तीन बार शीतल जल से स्नान करना चाहिए और भूमि पर सोना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में उसे चारों दिशाओं से आग उगलती भयानक धूप में खड़े रहना चाहिए। वर्षा ऋतु में उसे मूसलाधार वर्षा में खड़े

रहना चाहिए और शीत ऋतु में उसे कंठ तक पानी के भीतर डूबे रहना चाहिए। उसे दाँत साफ करने, एक समय एकत्र करके दूसरे समय पर खाने के लिए भोजन संग्रह करने और पशु-मांस के द्वारा भगवान् की पूजा करने का सर्वथा निषेध है। यदि वह अपने शेष जीवन-भर इन कठिन अभ्यासों को करता रहे, तो उसे तपोलोक प्राप्त होगा।

जीवन का चौथापन संन्यास के निमित्त है। उसे ब्रह्मलोक तक के किसी भी लोक में निवास प्राप्त करने से विरक्ति उत्पन्न कर लेनी चाहिए। भौतिक उत्थान के लिए ऐसी आंकाक्षाएँ भौतिक कर्म के फल प्राप्त करने की इच्छा के कारण उठती हैं। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि उच्चतर लोकों में आवास पा लेने से अन्ततः कष्ट ही प्राप्त होता है, तो उसे यह आदेश है कि वह त्याग की भावना से संन्यास ग्रहण करे। संन्यास की विधि में यज्ञ द्वारा भगवान् की पूजा करना, अपने पास की हर वस्तु पुरोहितों को दान में दे देना तथा अपने ही हृदय में विविध यज्ञ-अग्नियों को स्थापित करना सम्मिलित हैं। संन्यासी के लिए स्त्री की संगति या उसका अवलोकन तक विष ग्रहण करने से भी अधिक अवांछित है। आपात्काल के अतिरिक्त संन्यासी को कभी लँगोटा या लँगोटे के ऊपर के आच्छादन के अलावा कुछ भी नहीं पहनना चाहिए। उसे अपने दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिए रहना चाहिए। उसे जीवित प्राणियों के प्रति समस्त हिंसा त्याग कर शरीर, मन तथा वाणी के कार्यों में दमित हो जाना चाहिए। उसे विरक्त होकर और अपने में स्थिर होकर, अकेले ही पर्वतों, नदियों तथा जंगलों जैसे शुद्ध स्थानों की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार कार्य में लग कर उसे भगवान् का स्मरण करना चाहिए और उसे ऐसे स्थान में रहना चाहिए जहाँ भय न हो किन्तु जहाँ अधिक लोग न रहते हों। उसे प्रतिदिन चारों वर्णों के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए किन्तु पतित या शापित लोगों के घर छोड़ देने चाहिए। उसे शुद्ध हृदय से भगवान् को अपने द्वारा एकत्र किया गया भोजन अर्पित करना चाहिए और *महाप्रसादम्* के रूप में उच्छिष्ट ग्रहण करना चाहिए। इस तरह उसे सदैव यह ध्यान में रखना होगा कि इन्द्रियतृप्ति की लालसा बन्धन है और इन्द्रिय-विषयों को भगवान् माधव की सेवा में लगाना मोक्ष है। यदि उसमें ज्ञान तथा वैराग्य का अभाव है अथवा वह काम आदि प्रभावशाली इन्द्रियों रूपी छः अजेय शत्रुओं से विचलित होता है, अथवा मात्र जीवनयापन के लिए कोई *त्रिदण्ड* संन्यास ग्रहण करता है, तो उससे वह अपनी आत्मा का ही हनन करेगा।

परमहंस आदेशों तथा निषेधों के वशीभूत नहीं होता। वह बाह्य इन्द्रियतृप्ति से विरक्त भगवद्भक्त होता है और वह मोक्ष जैसे सूक्ष्म तृप्तिदायक उद्देश्यों की इच्छा से भी मुक्त रहता है। वह भेदभाव करने में दक्ष होता है और शिशु की तरह मान-अपमान की भावना से रहित होता है। दक्ष होते हुए भी वह मूढ की तरह घूमता रहता है और अत्यन्त विद्वान् होते हुए भी पागल मूर्ख जैसी असम्बद्ध बातें करता है। वेदों में स्थिर होते हुए भी वह असंयत ढंग से आचरण करता है। वह अन्यो के अपशब्द सुन लेता है और किसी की मानहानि नहीं करता। वह न तो शत्रु की तरह कार्य करता है न ही व्यर्थ के तर्क में अपने को लगाता है। वह समस्त प्राणियों में भगवान् को देखता है तथा भगवान् के भीतर सारे जीवों को देखता है। वह भगवान् की पूजा करते रहने के लिए अपने शरीर को जीवित रखने के लिए, बिना प्रयास के जैसा भी अच्छा या बुरा भोजन, वस्त्र तथा बिस्तर मिल जाता है उसे स्वीकार करता है। यद्यपि उसे अपना शरीर बनाये रखने के लिए भोजन पाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास करना पड़ता है, किन्तु जब कोई चीज मिल जाती है तब वह न तो प्रसन्न होता है और न किसी वस्तु के न मिलने पर हताश होता है। यद्यपि भगवान् पर वैदिक आदेश तथा निषेध लागू नहीं होते, किन्तु वे भी स्वेच्छा से विभिन्न नियत कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसी तरह परमहंस वैदिक आदेशों एवं निषेधों से स्वतंत्र रहते हुए विभिन्न कर्तव्य पूरे करता है। चूँकि भगवान् पर केन्द्रित दिव्य ज्ञान के द्वारा उसमें द्वैत भाव का उच्छेद हुआ रहता है, अतः अपने भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद वह मोक्ष प्राप्त करता है, जिसे *सार्ष्टि* कहते हैं और जिसमें मनुष्य भगवान् जैसा ऐश्वर्य पा लेता है।

जो व्यक्ति अपना हित चाहता है उसे प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। शिष्य को अपना मन श्रद्धा से पूरित करके, ईर्ष्या से दूर रह कर तथा भक्ति में स्थिर होकर, गुरु की सेवा करनी चाहिए और उसे परमेश्वर से अभिन्न मानना चाहिए। ब्रह्मचारी का मुख्य कर्तव्य है गुरु-सेवा। गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है जीवों की रक्षा तथा यज्ञ करना, वानप्रस्थ का कर्तव्य है तपस्या करना तथा संन्यासी का कर्तव्य है आत्मसंयम तथा अहिंसा बरतना। ब्रह्मचर्य (गृहस्थ को चाहिए कि पत्नी के ऋतुमती होने पर माह में एक बार छोड़ कर बाकी पूरे समय ब्रह्मचर्य पालन करे), तपस्या, स्वच्छता, आत्मतुष्टि, सभी जीवों से मैत्री तथा भगवान् की पूजा—ये हर जीवात्मा के लिए करणीय हैं। मनुष्य को अन्य लोगों की नहीं अपितु भगवान् की सदैव सेवा करने से और सभी जीवों को परमात्मा रूप में भगवान्

का वास स्थान मानने से, भगवान् की दृढ़ भक्ति प्राप्त होती है। वेदों के कर्मकांड अनुभाग के अनुयायियों को विविध अनुष्ठानों के द्वारा पितृलोक तथा अन्य लोक प्राप्त हो सकते हैं किन्तु यदि ये लोग भगवान् की भक्ति से युक्त हो लें, तो इन्हीं कर्मों से वे मोक्ष की चरमावस्था प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्या न्यस्य सहैव वा ।

वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; वनम्—जंगल में; विविक्षुः—प्रवेश करने का इच्छुक; पुत्रेषु—पुत्रों में से; भार्याम्—पत्नी को; न्यस्य—सौंप कर; सह—सहित; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; वने—जंगल में; एव—निश्चय ही; वसेत्—रहे; शान्तः—शान्त भाव से; तृतीयम्—तीसरे; भागम्—भाग में; आयुषः—जीवन के।

भगवान् ने कहा : जो जीवन के तीसरे आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ को ग्रहण करने का इच्छुक हो, उसे अपनी पत्नी को अपने जवान पुत्रों के साथ छोड़ कर या अपने साथ लेकर शान्त मन से जंगल में प्रवेश करना चाहिए।

तात्पर्य : कलियुग में लोग सामान्यतया सौ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहते और यह भी अब असामान्य होता जा रहा है। जो पुरुष सौ वर्ष जीने की आशा रखता है उसे पचास वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम अपना लेना चाहिए और फिर पचहत्तर वर्ष की आयु में पूर्ण संन्यास धारण करना चाहिए। चूँकि कलियुग में थोड़े ही लोग एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं, अतः मनुष्य को उसी के अनुसार तालमेल बैठाना चाहिए। वानप्रस्थ का मन्तव्य भौतिकतावादी पारिवारिक जीवन से पूर्ण वैराग्य की ओर क्रमिक संक्रमण है।

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।

वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि वा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कन्द—कन्द; मूल—जड़ें; फलैः—तथा फलों से; वन्यैः—जंगल में उगने वाले; मध्यैः—शुद्ध; वृत्तिम्—जीविका; प्रकल्पयेत्—व्यवस्था करे; वसीत—पहने; वल्कलम्—पेड़ की छाल; वासः—वस्त्रों के रूप में; तृण—घास; पर्ण—पत्ते; अजिनानि—पशुओं की खालें; वा—एवं।

वानप्रस्थ आश्रम अपनाने पर मनुष्य को चाहिए कि जंगल में उगने वाले शुद्ध कन्द, मूल तथा फल खाकर जीविका चलाये। वह पेड़ की छाल, घास, पत्ते या पशुओं की खाल पहने।

तात्पर्य : विरक्त साधु जंगल में पशुओं को नहीं मारता अपितु ऐसे पशुओं की खाल प्राप्त करता है

जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई रहती है। *मनुसंहिता* के गद्यांश के अनुसार, जिसे श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उद्धृत किया है, *मेध्यै* (शुद्ध) शब्द सूचित करता है कि जंगल में रहते हुए साधु को शहद से बने द्रव, मांस, कवक, कुकुरमुत्ते या कोई भ्रमात्मक या नशीली जड़ी-बूटियाँ, चाहे वे दवा ही क्यों न हों, ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयादतः ।

न धावेदप्सु मज्जेत त्रि कालं स्थण्डिलेशयः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

केश—सिर के बाल; रोम—शरीर के रोएँ; नख—नाखून (हाथ तथा पाँव के); श्मश्रु—मुँह के बाल (दाढ़ी-मूछ); मलानि—मल; बिभृयात्—सहन करे; दतः—दाँत; न धावेत्—साफ न करे; अप्सु—जल में; मज्जेत—स्नानकरे; त्रि-कालम्—दिन में तीन बार; स्थण्डिले—पृथ्वी पर; शयः—लेटना।

वानप्रस्थ को अपने सिर, शरीर या मुखमंडल के बाल नहीं सँवारने चाहिए, अपने नाखून नहीं काटने चाहिए, अनियमित समय पर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए और दाँतों की सफाई का विशेष प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे जल में नित्य तीन बार स्नान करके सन्तुष्ट रहना चाहिए और जमीन पर सोना चाहिए।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन्वर्षास्वासारषाड्जले ।

आकण्ठमग्नः शिशिर एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ग्रीष्मे—गर्मी की ऋतु में; तप्येत—तपस्या करे; पञ्च-अग्नीन्—पाँच अग्नियाँ (सिर के ऊपर सूर्य तथा चारों दिशाओं में जलने वाली अग्नियाँ); वर्षासु—वर्षा ऋतु में; आसार—वर्षा की झड़ी; षाट्—सहते हुए; जले—जल में; आ-कण्ठ—गले तक; मग्नः—डूबा हुआ; शिशिरे—जाड़े की ऋतु में; एवम्—इस प्रकार; वृत्तः—लगा हुआ; तपः—तपस्या; चरेत्—करे।

इस तरह वानप्रस्थ में लगा हुआ व्यक्ति तपते गर्मी के दिनों में अपने चारों ओर जलती अग्नि तथा सिर के ऊपर तपते सूर्य को झेल कर तपस्या करे। वर्षा ऋतु में वह वर्षा की झड़ी में बाहर रहे और ठिठुरती शीत ऋतु में वह गले तक पानी में डूबा रहे।

तात्पर्य : जो इन्द्रियतृप्ति में अपने को लगाता है उसे जीवन के अन्त में अपने पापपूर्ण तथा मौजी कार्यों के निराकरण के लिए कठिन तपस्या करनी चाहिए। किन्तु भगवद्भक्त स्वभावतः कृष्णभावनामृत उत्पन्न कर लेता है और उसे ऐसी आद्य तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। *पञ्चरात्र* में कहा गया है—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं

नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं ।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं

नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥

“यदि कोई व्यक्ति उचित रीति से भगवान् की पूजा कर रहा हो, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ ? और यदि कोई ठीक से भगवान् की तपस्या नहीं करे, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ ? यदि श्रीकृष्ण को हर वस्तु के अन्दर तथा बाहर अनुभव किया जाय, तो फिर कठिन तपस्या से क्या लाभ ? और यदि श्रीकृष्ण हर वस्तु के अन्दर तथा बाहर नहीं दिखते, तो कठिन तपस्या से क्या लाभ ?

अग्निपक्वं समश्नीयात्कालपक्वमथापि वा ।

उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अग्नि—आग से; पक्वम्—पकाया गया; समश्नीयात्—खाये; काल—समय के द्वारा; पक्वम्—खाने के योग्य; अथ—अथवा; अपि—निस्सन्देह; वा—अथवा; उलूखल—ओखली से; अश्म—तथा पत्थर; कुट्टः—कूटा या पीसा गया; वा—अथवा; दन्त—दाँतों का प्रयोग करते हुए; उलूखलः—ओखली के रूप में; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा ।

वह अग्नि द्वारा तैयार किया गया भोजन यथा अन्न अथवा समय से पके फलों को खा सकता है । वह अपने भोजन को बट्टे से या अपने दाँतों से पीस सकता है ।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में संस्तुति की जाती है कि जीवन के अन्त में आध्यात्मिक सिद्धि के लिए मनुष्य किसी तीर्थस्थान या जंगल में जाये । पवित्र जंगलों में उसे भोजनालय, सुपर बाजार, तुरन्त भोजनालय आदि नहीं मिलते अतः उसे इन्द्रियतृप्ति को कम करके सादा भोजन करना चाहिए । यद्यपि पाश्चात्य देशों में लोग तैयार भोजन करते हैं, किन्तु जो सादा जीवन बिता रहा हो उसे स्वयं ही अन्न अथवा अन्य भोजन को खाने से पूर्व कूटना-छानना चाहिए । यहाँ इसी का उल्लेख है ।

स्वयं सञ्चिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।

देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने से; सञ्चिनुयात्—एकत्र करे; सर्वम्—हर वस्तु; आत्मनः—अपनी ही; वृत्ति—जीविका; कारणम्—सुलभ बनाने के लिए; देश—विशेष स्थान; काल—समय; बल—तथा शक्ति; अभिज्ञः—भलीभाँति जानते हुए; न आददीत—न ले; अन्यदा—दूसरी बार के लिए; आहृतम्—वस्तुएँ ।

वानप्रस्थ को चाहिए कि देश, काल तथा अपनी सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए, अपने शरीर के पालन हेतु जो आवश्यक हो, उसे एकत्र करे। उसे भविष्य के लिए कोई वस्तु संग्रह नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक नियमों के अनुसार तपस्या करने वाले को उतना ही संग्रह करना चाहिए जितने की तुरन्त जरूरत हो और भोजन मिल जाने पर वह पूर्व संचित भोजन को तुरन्त त्याग दे जिससे उसके पास अतिरिक्त न रहे। यह नियम मनुष्य को भगवान् में श्रद्धापूर्वक आश्रित बनाये रखने के लिए है। उसे भोजन या अन्य आवश्यक वस्तुएँ भविष्य के इस्तेमाल के लिए संग्रह नहीं करनी चाहिए। देशकालबलाभिज्ञ सूचित करता है कि किसी दुर्गम स्थान में या आपात्काल में अथवा शारीरिक अक्षमता होने पर इस कठोर नियम का पालन करने की आवश्यकता नहीं है, इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि जब तक कोई नितान्त अशक्त न हो, तब तक वह निजी पालन-पोषण के लिए अन्यो पर निर्भर न रहे क्योंकि इससे जो ऋण एकत्र होगा उसे भौतिक जगत में अगला जन्म लेकर ही चुकता किया जा सकेगा। यह केवल उन पर लागू होता है, जो निजी शुद्धि का प्रयास करते हैं, उन पर नहीं जो चौबीसों घण्टे कृष्ण की भक्ति में लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के लिए ही खाता, पहनता तथा बोलता है और इस तरह अन्यो से वह जो भी सहायता लेता है, वह अपने लिए नहीं होती। वह भगवान् के मिशन में पूरी तरह समर्पित रहता है। किन्तु जो इस तरह समर्पित नहीं है, उसे अन्यो का ऋण चुकाने के लिए इस जगत में फिर से जन्म लेना होगा।

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत्कालचोदितान् ।

न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वन्यैः—जंगल से प्राप्त; चरु—धान, जौ तथा दाल की आहुतियों से; पुरोडाशैः—तथा जंगली धान से तैयार की गई यज्ञ की चपाती; निर्वपेत्—अर्पित करे; काल-चोदितान्—अनुष्ठान यथा आग्रयण जो ऋतु के अनुसार सम्पन्न होते हैं (आग्रयण में वर्षा ऋतु के बाद प्रकट होने वाले पहले फल अर्पित किये जाते हैं); न—कभी नहीं; तु—निस्सन्देह; श्रौतेन—वेदों में उल्लिखित; पशुना—पशु-बलि के साथ; माम्—मुझको; यजेत—पूजा करे; वन-आश्रमी—वानप्रस्थ स्वीकार करके जंगल में जाने वाला ।

जिसने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार किया हो उसे चाहिए कि चरु तथा जंगल में पाये जाने

वाले धान तथा अन्य अन्नों से तैयार की गई यज्ञ-रोटी (पुरोडाश) की आहुतियों से ऋतु के अनुसार यज्ञ सम्पन्न करे। किन्तु वानप्रस्थ को चाहिए कि वह मुझे पशु-बलि कभी न अर्पित करे, यहाँ तक कि उन्हें भी जो वेदों में वर्णित हैं।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया हो, उसे न तो पशु-यज्ञ करना चाहिए, न मांस खाना चाहिए।

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पौर्णमासश्च पूर्ववत् ।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अग्नि-होत्रम्—अग्नि-यज्ञ; च—भी; दर्शः—प्रतिपादा को सम्पन्न किया गया यज्ञ; च—भी; पौर्ण-मासः—पूर्णमासी के दिन सम्पन्न यज्ञ; च—भी; पूर्व-वत्—पहले की तरह, जैसाकि गृहस्थाश्रम में किया जाता था; चातुः-मास्यानि—चातुर्मास के व्रत तथा यज्ञ; च—भी; मुनेः—वानप्रस्थ के; आम्नातानि—आदिष्ट; च—भी; नैगमैः—वेदवेत्ताओं के द्वारा।

वानप्रस्थ को चाहिए कि अग्निहोत्र, दर्श तथा पौर्णमास यज्ञों को उसी तरह करता रहे जिस तरह गृहस्थाश्रम में करता था। उसे चातुर्मास्य के व्रत तथा यज्ञ भी सम्पन्न करने चाहिए क्योंकि वेदविदों ने वानप्रस्थों के लिए इन अनुष्ठानों का आदेश दिया है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यहाँ पर उल्लिखित चारों अनुष्ठानों—अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास तथा चातुर्मास्य की विशद व्याख्या की है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का ही कीर्तन करना चाहिए और वैदिक अनुष्ठानों के कठिन झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। जो व्यक्ति न तो हरे कृष्ण का कीर्तन करता है न ऐसे अनुष्ठान ही करता है, वह पाषण्डी बन जाता है।

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः ।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; चीर्णेन—अभ्यास से; तपसा—तपस्या के; मुनिः—सन्त वानप्रस्थ; धमनि-सन्ततः—जिसके शरीर की सारी नसें दिखने लगे, इतना दुर्बल; माम्—मुझको; तपः-मयम्—सारी तपस्या का लक्ष्य; आराध्य—पूजा करके; ऋषि-लोकात्—महर्षियों से परे; उपैति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको।

कठिन तपस्या करते हुए तथा जीवन की आवश्यकताओं मात्र को ही स्वीकार करते हुए, सन्त वानप्रस्थ इतना दुर्बल हो जाता है कि उसकी चमड़ी तथा अस्थियाँ ही रह जाती हैं। इस तरह

कठिन तपस्या द्वारा मेरी पूजा करके वह महर्लोक जाता है और वहाँ मुझे प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जो वानप्रस्थ शुद्ध भक्ति उत्पन्न कर लेता है, वह वानप्रस्थ अवस्था में ही भगवान् कृष्ण को पा लेता है। किन्तु जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित नहीं हो पाता, वह पहले महर्लोक या ऋषि लोक जाता है जहाँ से सीधे भगवान् कृष्ण को प्राप्त करता है।

मनुष्य को महर्लोक या ऋषि लोक की प्राप्ति कठोर विधि-निषेधों के पालन से ही होती है। किन्तु भगवान् के यश के कीर्तन तथा श्रवण के प्रति रुचि (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) उत्पन्न किये बिना, परम मोक्ष प्राप्त करके भगवद्धाम वापस जा पाना सम्भव नहीं है। इसलिए महर्लोक में असफल मुनि कीर्तन तथा श्रवण पर अधिक ध्यान देता है और इस तरह शुद्ध भगवत्प्रेम उत्पन्न कर लेता है।

यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् ।

कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—निस्सन्देह; एतत्—यह; कृच्छ्रतः—कठिन तपस्या से; चीर्णम्—दीर्घकाल तक; तपः—तपस्या; निःश्रेयसम्—परम मोक्ष प्रदान करते हुए; महत्—यशस्वी; कामाय—इन्द्रियतृप्ति के लिए; अल्पीयसे—नगण्य; युञ्ज्यात्—अभ्यास करता है; बालिशः—ऐसा मूर्ख; कः—कौन; अपरः—अन्य; ततः—उसके अलावा।

जो व्यक्ति, मात्र क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति के लिए, दीर्घकालीन प्रयत्न द्वारा इस कष्टप्रद किन्तु महान् तपस्या को सम्पन्न करता है, उसे सबसे बड़ा मूर्ख समझना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णित वानप्रस्थ विधि इतनी यशस्विनी है कि इससे महर्लोक तो प्राप्त हो ही जाता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वर्ग जाने के लिए इस विधि को मनोयोग से करता है, वह सबसे बड़ा मूर्ख है। भगवान् नहीं चाहते कि भौतिकतावादी धूर्तजन इस विधि का दुरुपयोग करें क्योंकि चरम लक्ष्य तो भगवत्प्रेम है।

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आसौ—सन्त वानप्रस्थ; नियमे—अपने नियत कर्तव्यों में; अकल्पः—करने में अक्षम; जरया—वृद्धावस्था के कारण; जात—उत्पन्न; वेपथुः—शरीर का कम्पन; आत्मनि—अपने हृदय में; अग्नीन्—यज्ञ-अग्नियों को; समारोप्य—रख कर; मत्-चित्तः—मुझमें अपना मन स्थिर करके; अग्निम्—अग्नि में; समाविशेत्—प्रवेश करे।

यदि वानप्रस्थ वृद्धावस्था को प्राप्त हो और शरीर काँपने के कारण अपने नियत कर्म पूरा न

कर सके, तो उसे चाहिए कि ध्यान द्वारा यज्ञ-अग्नि को अपने हृदय के भीतर स्थापित करे। फिर अपने मन को मुझमें टिकाकर उस अग्नि में प्रवेश करके अपना शरीर त्याग दे।

तात्पर्य : चूँकि वानप्रस्थ की विधि उन लोगों के लिए संस्तुत की जाती है, जो जीवन के अन्तिम छोर पर होते हैं, अतएव इसकी सम्भावना रहती है कि उनमें वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगें और वह संन्यास की अन्तिम अवस्था तक न पहुँच पाये। यदि कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के कारण अपने धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता तो उसके लिए यहाँ यह सलाह दी गई है कि वह अपने मन को कृष्ण में टिकाकर यज्ञ-अग्नि में प्रवेश करे। यद्यपि आधुनिक युग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है, किन्तु जैसाकि इस श्लोक से प्रत्यक्ष है भगवद्धाम जाने की गम्भीरता की सराहना तो कर ही सकते हैं।

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ।

विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; कर्म—सकाम कर्म द्वारा; विपाकेषु—प्राप्तव्य में; लोकेषु—ब्रह्मलोक तक के सारे लोकों में; निरय-आत्मसु—लोक जो नरकतुल्य हैं; विरागः—विरक्ति; जायते—उत्पन्न होती है; सम्यक्—पूरी तरह से; न्यस्त—त्याग कर; अग्निः—वानप्रस्थ की यज्ञ-अग्नि; प्रव्रजेत्—संन्यास ले ले; ततः—तब।

यदि यह समझते हुए कि ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर पाना दयनीय स्थिति है, कोई वानप्रस्थ सकाम कर्मों के सभी सम्भव परिणामों से पूर्ण विरक्ति उत्पन्न कर लेता है, तो वह संन्यास आश्रम ग्रहण कर सकता है।

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।

अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूज कर; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—शास्त्रीय आदेशों; माम्—मुझको; दत्त्वा—देकर; सर्व-स्वम्—जो कुछ भी पास में हो; ऋत्विजे—पुरोहित को; अग्नीन्—यम-अग्नि को; स्व-प्राणे—अपने भीतर; आवेश्य—रख कर; निरपेक्षः—आसक्तिरहित; परिव्रजेत्—संन्यास लेकर निकल पड़े।

शास्त्रीय आदेशों के अनुसार मेरी पूजा करके तथा यज्ञ-पुरोहित को अपनी सारी सम्पत्ति देकर, उसे यज्ञ-अग्नि को अपने भीतर रख लेना चाहिए। इस तरह मन को पूर्णतया विरक्त करके वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करे।

तात्पर्य : जब तक अपनी सारी भौतिकतावादी संगति को त्याग न दिया जाय तथा एकमात्र

भगवान् की सेवा में अपने को लगा न लिया जाय, तब तक संन्यास आश्रम को बनाये रखना मुश्किल है। कोई भी भौतिक इच्छा विरक्त जीवन बिताने में धीरे धीरे अवरोधक बनती है। इसलिए मुक्त संन्यासी को भौतिक इच्छाओं के खरपतवार से अपने को सावधानीपूर्वक मुक्त रखना चाहिए—यह खरपतवार स्त्री, धन तथा यश के प्रति आसक्ति के रूप में होती है। कोई भी सुन्दर उद्यान जो फल-फूलों से लदा हो बिना देखभाल के खरपतवार से भर जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत की सुन्दर अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वही संन्यास आश्रम ग्रहण करता है, किन्तु यदि वह सतर्क रह कर अपने हृदय को स्वच्छ नहीं रखता तो सम्भव है कि वह पुनः माया की ओर मुड़ जाय।

विप्रस्य वै सन्न्यसतो देवा दारादिरूपिणः ।

विघ्नान्कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

विप्रस्य—सन्त पुरुष का; वै—निस्सन्देह; सन्न्यसतः—संन्यास ग्रहण करते हुए; देवाः—देवतागण; दार-आदि-रूपिणः—उसकी पत्नी तथा अन्य आकर्षक वस्तुओं के रूप में प्रकट होकर; विघ्नान्—अवरोध; कुर्वन्ति—उत्पन्न करते हैं; अयम्—संन्यासी; हि—निस्सन्देह; अस्मान्—देवताओं को; आक्रम्य—पार करके; समियात्—जाय; परम्—भगवद्धाम।

देवतागण यह सोच कर कि, “संन्यास लेकर यह व्यक्ति हमसे आगे निकल कर भगवद्धाम जा रहा है” संन्यासी के मार्ग में उसकी पूर्व पत्नी या अन्य स्त्रियों तथा आकर्षक वस्तुओं के रूप में प्रकट होकर अवरोध उत्पन्न करते हैं। किन्तु संन्यासी को चाहिए कि इन देवताओं तथा उनके स्वरूपों पर कोई ध्यान न दे।

तात्पर्य : देवताओं को ब्रह्माण्ड-प्रशासन का अधिकार मिला हुआ है और अपनी शक्ति से वे संन्यासी की पत्नी या अन्य स्त्रियों के रूप में प्रकट हो सकते हैं जिससे संन्यासी अपना कठोर व्रत त्याग कर इन्द्रियतृप्ति में फँस जाता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण सारे संन्यासियों को यह कह कर प्रोत्साहित कर रहे हैं “ऐसे स्वरूपों पर कोई ध्यान न दो। भगवद्धाम वापस जाने का अपना कार्य करते रहो।”

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।

त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

बिभृयात्—पहने; चेत्—यदि; मुनिः—संन्यासी; वासः—वस्त्र; कौपीन—लँगोटे; आच्छादनम्—आवरण, पर्दा; परम्—अन्य; त्यक्तम्—छोड़ा हुआ; न—कभी नहीं; दण्ड—अपने डंडे के अतिरिक्त; पात्राभ्याम्—तथा कमंडल; अन्यत्—अन्य; किञ्चित्—कोई वस्तु; अनापदि—जब कोई आपात्काल न हो।

यदि संन्यासी लँगोटे के अतिरिक्त भी कुछ पहनना चाहे तो वह कौपीन को ढकने के लिए अपनी कमर और कूल्हे के चारों ओर कोई आवरण इस्तेमाल कर सकता है। अन्यथा, यदि विशेष आवश्यकता न हो तो वह दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार न करे।

तात्पर्य : भौतिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट संन्यासी अपनी भगवान् कृष्ण की पूजा को बिगाड़ देता है।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दृष्टि—देखने से; पूतम्—शुद्ध; न्यसेत्—रखे; पादम्—अपना पाँव; वस्त्र—कपड़े से; पूतम्—छाना हुआ; पिबेत्—पिये; जलम्—जल; सत्य—सत्य द्वारा; पूताम्—पवित्र; वदेत्—बोले; वाचम्—शब्द; मनः—मन से निश्चित किया हुआ; पूतम्—पवित्र; समाचरेत्—सम्पन्न करे।

सन्त पुरुष को चाहिए कि अपनी आँखों से यह निश्चित करके अपना पाँव रखे कि ऐसा कोई जीव या कीड़ा तो नहीं है, जो उसके पाँव से कुचल जायगा। उसे अपने वस्त्र के एक छोर से छान कर ही जल पीना चाहिए और ऐसे शब्द बोलने चाहिए जिनमें सचाई की शुद्धता हो। इसी प्रकार उसे वे ही कर्म करने चाहिए जिन्हें उसके मन ने शुद्ध निश्चित कर लिया हो।

तात्पर्य : चलते समय सन्त पुरुष सावधान रहता है कि पृथ्वी पर कोई छोटा प्राणी पाँवों के नीचे आकर मर न जाय। इसी तरह वह पीने वाले पानी को कपड़े से छान लेता है, जिससे पानी में रहने वाले छोटे छोटे प्राणी पेट में न चले जाँय। केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए असत्य भाषण करना भक्ति के लिए हानिप्रद है, अतः इससे बचना चाहिए। निर्विशेषवादी दर्शन का कथन और भौतिक जगत की इन्द्रियतृप्ति के गुणगान करना, चाहे स्वर्ग में ही क्यों न हो, हृदय को कलुषित बनाता है, अतः जो लोग भगवद्भक्ति में पूर्णता के इच्छुक हैं, उन्हें इससे बचना चाहिए। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह समझ में आ जायेगा कि भगवान् कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त किसी भी कर्म का कोई मूल्य नहीं होता, अतएव मनुष्य को एकान्तिक रूप से कृष्णभावनामृत के शुद्ध कार्यों में ही लगना चाहिए।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मौन—व्यर्थ भाषण से बचना; अनीह—सकाम कर्मों का त्याग; अनिल-आयामा:—श्वास क्रिया को नियंत्रित करना; दण्डा:—अनुशासन; वाक्—वाणी; देह—शरीर का; चेतसाम्—मन का; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; एते—ये अनुशासन; यस्य—जिसके; सन्ति—होते हैं; अङ्ग—हे ऊर्ध्व; वेणुभिः—बाँस के डंडों से; न—कभी नहीं; भवेत्—होता है; यतिः—असली संन्यासी ।

जिसने व्यर्थ बोलने, व्यर्थ के कार्य करने तथा प्राण-वायु को नियंत्रण में रखने के इन तीन आन्तरिक अनुशासनों को ग्रहण नहीं किया, वह बाँस के दण्ड उठाने मात्र से संन्यासी नहीं माना जा सकता ।

तात्पर्य : दण्ड शब्द संन्यासियों द्वारा लिये जाने वाले डंडे का सूचक है और कठोर अनुशासन का भी । वैष्णव संन्यासी तीन बाँस के डण्डों की बनी हुई लाठी धारण करते हैं, जो कि शरीर, मन तथा वाणी से भगवान् की सेवा में समर्पण को बतलाते हैं । यहाँ पर भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपने में इन तीन दण्डों अर्थात् अनुशासनों (वाणी, शरीर तथा मन पर नियंत्रण) को स्वीकार करना चाहिए । अनिलायाम् का अभ्यास (प्राणायाम्) मन को वश में करने के लिए होता है और जो व्यक्ति सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा के विषय में ही सोचता है, उसे निश्चय ही प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त हुई रहती है । मन, वाणी तथा शरीर के अनुशासन रूपी आन्तरिक दण्डों को आत्मसात किये बिना तीन बाह्य दण्ड धारण करने से ही कोई वास्तविक वैष्णव संन्यासी नहीं बन जाता जैसाकि यहाँ पर भगवान् कृष्ण बतलाते हैं ।

महाभारत के हंसगीत भाग में तथा श्रील रूप गोस्वामी के उपदेशामृत में संन्यास आश्रम के विषय में शिक्षाएँ हैं । वह बद्धजीव जो त्रिदण्ड संन्यास के बाह्य अलंकरणों को ग्रहण करता है, वह इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता । जो व्यक्ति झूठी प्रतिष्ठा के लिए संन्यास लेता है और कृष्ण-कीर्तन में वास्तविक प्रगति किये बिना सन्त होने का दिखावा करता है, वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा शीघ्र ही विनष्ट कर दिया जायेगा ।

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्हान्वर्जयंश्चरेत् ।
सप्तागारानसङ्किप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भिक्षाम्—भीख माँगने से प्राप्त दान; चतुर्षु—चारों; वर्णेषु—वर्णों में; विगह्वान्—गर्हित, अशुद्ध; वर्जयन्—तिरस्कार करते हुए; चरेत्—पहुँचे; सप्त—सात; आगारान्—घरों में; असङ्कृप्तान्—बिना किसी अनुमान या इच्छा के; तुष्येत्—तुष्ट हो ले; लब्धेन—प्राप्त हुए से; तावता—उतने से ही।

जो घर दूषित तथा अस्पृश्य हों उनका तिरस्कार करके वानप्रस्थ को चाहिए कि बिना पूर्व निश्चय के सात घरों में जाय और उनमें भीख माँगने से जो भी प्राप्त हो उससे तुष्ट हो ले। आवश्यकतानुसार वह चारों वर्णों के घरों में जा सकता है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम को प्राप्त सन्त पुरुष भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैदिक संस्कृति के कट्टर अनुयायियों से भीख माँग सकते हैं। वैदिक आदेशानुसार विरक्त सन्त को ब्राह्मण जाति में भीख माँगनी चाहिए, किन्तु यदि वह भूखों मरने वाला हो, तो वह क्षत्रियों से, फिर वैश्यों से तथा अन्त में शूद्रों तक से, यदि वे पापी न हों, भीख माँग सकता है जैसाकि यहाँ पर विगह्वान् शब्द द्वारा व्यक्त हुआ है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि असङ्कृप्तान् यह सूचित करता है कि उसे यह सोच कर किन्हीं घरों में नहीं जाना चाहिए कि, “उस घर से मुझे उत्तम भोजन मिल सकेगा। भिखारियों में तो उसी घर की बड़ी प्रतिष्ठा है।” उसे बिना भेदभाव के सात घरों में जाना चाहिए और उनसे जो कुछ मिले उसी से संतुष्ट रहना चाहिए। अपने निर्वाह के लिए उसे उन निवासियों के घरों से ही माँगना चाहिए जो वर्णाश्रम संस्कृति के सच्चे अनुयायी हों और ईमानदारी से जीविका चला रहे हों और पापकर्मों से मुक्त हों। वह ऐसे ही घरों से भिक्षा माँगे। वह अपने निर्वाह के लिए उनसे भिक्षा न माँगे जो भगवद्भक्ति के विरोधी हैं क्योंकि वर्णाश्रम संस्कृति का पूरा उद्देश्य भक्ति ही है।

जो लोग वैदिक संस्कृति का विरोध करते हैं, वे सन्त पुरुषों द्वारा भिक्षा माँगने को अपराध-कर्म बताकर कानून बनाते हैं। इस तरह वे सन्त भिक्षुकों को सामान्य घुमक्कड़ मान कर अपमान करते हैं और दण्ड देते हैं। काम से जी चुराने वाला आलसी व्यक्ति भीख माँगे तो वह निश्चित रूप से निन्दनीय है, किन्तु एक सन्त पुरुष, जो भगवान् की सेवा में समर्पित हो और भगवान् की दया पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास करने के लिए भिक्षा माँगता हो, उसे मानव समाज में सारी सुविधाएँ दी जानी चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि भिक्षा माँगने के तीन रूप हैं। माधुकर मधुमक्खी का अनुकरण करने वाली विधि है, जिसमें मधुमक्खी प्रत्येक फूल से थोड़ा-थोड़ा अमृत एकत्र करती है। इस तरह सन्त पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से बहुत थोड़ी मात्रा लेता है, जिससे सामाजिक

संघर्ष से बचा जाये। यहाँ पर उल्लिखित विधि असंक्लृप्त है, जिसमें व्यक्ति बिना भेदभाव किये सात घरों में जाता है और जो भी प्राप्त होता है उसी से संतुष्ट हो जाता है। प्राक्प्रणीत वह विधि है, जिसमें नियमित दाताओं से ही निर्वाह के लिए संग्रह किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रील वीरराघव आचार्य ने संन्यास की आरंभिक अवस्था का वर्णन किया है, जो कुटीचक्र कहलाती है और इस प्रकार है : संन्यास धारण करने वाला व्यक्ति प्रारम्भिक अवस्था में अपने पुत्रों या अन्य सम्बन्धियों या शुभचिन्तकों से एक कुटी या ध्यान कुटिया बनाने को कहता है। वह सांसारिक कार्यों को छोड़ कर इसी कुटी के भीतर बैठता है और काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि से मुक्त रहने का प्रयास करता है। नियमित जीवन के निर्धारित आदेशों के अनुसार वह त्रिदण्ड धारण करता है, कमंडलु से अपने को शुद्ध करता है, अपना सिर (शिखा को छोड़ कर) घुटा देता है, जनेऊ में गायत्री मंत्र का जप करता है और गेरुवे वस्त्र धारण करता है। नियमित स्नान करना, स्वच्छ रहना, आचमन करना, जप करना, वेदाध्ययन करना, ब्रह्मचर्य व्रत रखना और भगवान् का ध्यान करना—इन सबको करते हुए वह अपने पुत्रों, मित्रों तथा सम्बन्धियों से नियमित रूप से भोजन प्राप्त करता है। न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, वह मोक्ष पाने के क्षण तक अपनी कुटी में स्थिर रहता जाता है।

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।

विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बहिः—शहरी क्षेत्र से बाहर, एकान्त स्थान में; जल—पानी के; आशयम्—आगार या भण्डार में; गत्वा—जाकर; तत्र—वहाँ; उपस्पृश्य—जल के स्पर्श से शुद्ध होकर; वाक्-यतः—बिना बोले; विभज्य—ठीक से वितरित करके; पावितम्—शुद्ध किया हुआ; शेषम्—बचा हुआ; भुञ्जीत—खाये; अशेषम्—पूरी तरह; आहृतम्—भिक्षा माँग कर एकत्र किया हुआ।

वह भिक्षा माँगने से एकत्र हुआ भोजन लेकर, जनसंख्य वाले क्षेत्रों को त्याग कर एकान्त स्थान में किसी जलाशय के निकट जाये। वहाँ पर स्नान करके तथा भलीभाँति हाथ धोकर भोजन का कुछ अंश माँगने वालों में बाँटे। वह बिना बोले ऐसा करे। तब शेष बचे भाग को ठीक से साफ करके, अपनी थाली का सारा भोजन खा ले और बाद के लिए कुछ भी न छोड़े।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि सन्त पुरुष को चाहिए कि उन भौतिकतावादी व्यक्तियों से न तो तर्क-वितर्क करे, न झगड़े, जो उसके भोजन में से कुछ भाग लेना चाहते हों। विभज्य शब्द इसका सूचक है कि कुछ हिस्सा ऐसे लोगों को दिया जाय, जिससे उत्पात न

मचे और तब जो बचे, उसे भगवान् विष्णु को अर्पित करके, तब अपनी थाली का पूरा भोजन खा ले और आगे के लिए कुछ न छोड़े। *बहिः* शब्द बताने वाला है कि उसे सार्वजनिक स्थान में नहीं खाना चाहिए। *वाग्-यत* शब्द बताता है कि मौन होकर तथा भगवान् की कृपा का ध्यान करते हुए भोजन किया जाय।

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।

आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; चरेत्—इधर-उधर जाये; महीम्—पृथ्वी पर; एताम्—यह; निःसङ्गः—किसी भौतिक आसक्ति में बिना; संयत-इन्द्रियः—इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करते हुए; आत्म-क्रीडः—परमात्मा के साक्षात्कार से उत्साहित; आत्म-रतः—आध्यात्मिक ज्ञान में पूर्णतया तुष्ट; आत्म-वान्—आध्यात्मिक पद पर स्थित; सम-दर्शनः—सर्वत्र समान दृष्टि से।

बिना किसी आसक्ति के, इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करके, उत्साही बने रह कर तथा भगवान् के साक्षात्कार एवं अपने में तुष्ट सन्त पुरुष को अकेले ही पृथ्वी पर विचरण करना चाहिए। उसे सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए आध्यात्मिक पद पर स्थिर रहना चाहिए।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भौतिक इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहता है, वह हरे कृष्ण के कीर्तन में स्थिर नहीं हो सकता। वह भ्रामक इच्छाओं में बँध कर अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह वश में नहीं रख पाता। वस्तुतः मनुष्य को चौबीसों घण्टे भगवद्भक्ति की शरण में रहना चाहिए क्योंकि ऐसी भक्ति से वह आध्यात्मिक सच्चाई के दायरे में रहता जाता है। भगवान् की महिमाओं तथा लीलाओं के साथ भगवन्नाम के कीर्तन तथा श्रवण से मनुष्य स्वभावतः भौतिक इन्द्रियतृप्ति के क्षेत्र से दूर चला जाता है। भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों की सत्संगति से व्यर्थ की भौतिक संगति स्वयमेव समाप्त हो जाती है और मनुष्य बद्धजीव को भौतिक क्षेत्र से ऊपर उठाने और कृष्णभावनामृत के मुक्त पद तक ले जाने वाले वैदिक आदेशों को पूरा करने में समर्थ होता है। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* (४) में कहा है—

ददाति प्रतिग्रहणाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।

भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति लक्षणम् ॥

“दान में उपहार देना, दान योग्य उपहार ग्रहण करना, विश्वास में अपने मन की बात प्रकट करना, विश्वसनीय रूप से प्रश्न पूछना, प्रसाद ग्रहण करना तथा प्रसाद देना ये प्रेम के छह लक्षण हैं जिनमें एक

भक्त दूसरे को सहभागी बनाता है।”

इस तरह जो व्यक्ति भगवान् के भक्तों के संग रहना सीख लेता है, वह भौतिक जीवन के कल्मष से दूर रहता है। शुद्ध संगति से मनुष्य धीरे धीरे श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुणों, संगियों, लीलाओं तथा भक्ति को समझ लेता है और इस तरह इसी जीवन में ही, वह वैकुण्ठ का वासी बन सकता है। शुद्ध भक्तों की संगति में कोई भौतिक कल्मष नहीं होता और न ही व्यर्थ की कोई चर्चा होती है, क्योंकि सारे शुद्ध भक्त चौबीसों घण्टे भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। ऐसे भक्तों के प्रभाव से मनुष्य *समदर्शन* उत्पन्न कर लेता है और कृष्णभावनामृत के अनुभूत ज्ञान को सर्वत्र देखता है। ज्योंही कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझने लगता है, त्योंही वह *आत्मवान* बन जाता है अर्थात् अपने स्वाभाविक पद पर स्थित हो जाता है। ऐसा महावैष्णव जो निरन्तर प्रेमाभक्ति का रसास्वादन करता है और पृथ्वी पर भगवान् के मिशन को पूरा करता है, वह *आत्म-क्रीड* है अर्थात् वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के भीतर जीवन का भोग करता है। महाभक्त निरन्तर भगवान् तथा उनके भक्तों के प्रति आकृष्ट रहता है अतएव वह *आत्मरत* होता है—भक्ति में निरन्तर लगे रहने से पूर्ण तुष्ट होता है। यहाँ पर उल्लिखित उच्च गुणों को भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त बने बिना विकसित नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या रखता है, वह कुसंगति की ओर बढ़ता है, धीरे धीरे इन्द्रियों का संयम खो बैठता है और अपवित्र जीवन के फन्दे में पड़ जाता है। अभक्तों की असंख्य किस्में भगवान् कृष्ण की ईर्ष्या रूपी वृक्ष की शाखाओं के समान हैं। इसलिए उनकी संगति हर संभव विधि से त्याग देनी चाहिए।

भगवान् की शुद्ध भक्ति के बिना मनुष्य का सम्पर्क भगवान् की इच्छा तथा मिशन से टूट जाता है और वह भगवान् की माया द्वारा सृजित अद्भुत नर-नारियों, देवताओं, देवियों, राजनीतिज्ञों, वेश्याओं की पूजा करने लगता है। इस तरह मूर्खतावश वह भगवान् के अतिरिक्त वस्तुओं को भी परम अद्भुत मानता है। वस्तुतः जो लोग असीम सौन्दर्य तथा आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं उनके लिए भगवान् कृष्ण ही एकमात्र असली पूजा की वस्तु हैं। गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत को स्वीकार करके ही कोई भगवान् कृष्ण के दिव्य पद को अनुभव करता है और धीरे धीरे इस श्लोक में उल्लिखित सारे गुण उत्पन्न कर लेता है।

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ।

आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विविक्त—अकेला; क्षेम—सुरक्षित; शरणः—उसका निवासस्थान; मत्—मुझमें; भाव—निरन्तर विचार से; विमल—शुद्ध; आशयः—चेतना; आत्मानम्—आत्मा के विषय में; चिन्तयेत्—केन्द्रित करे; एकम्—अकेला; अभेदेन—अभिन्न; मया—मुझसे; मुनिः—मुनि ।

मुनि को चाहिए कि सुरक्षित तथा एकान्त स्थान में रहते हुए और निरन्तर मेरे ध्यान द्वारा मन को शुद्ध करके, अपने को मुझसे अभिन्न मानते हुए एकमात्र आत्मा में अपने को एकाग्र करे ।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् के साथ पाँच प्रमुख प्रकार के सम्बन्धों में से किसी एक द्वारा भगवद्भक्ति में लगा रहता है, वह शुद्ध वैष्णव कहलाता है। भगवत्प्रेम में आगे बढ़ जाने के कारण शुद्ध भक्त बिना किसी भौतिक बाधा के भगवान् के यश का कीर्तन करने में सक्षम रहता है। वह कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि नहीं रखता और गुणात्मक दृष्टि से अपने को भगवान् से भिन्न नहीं मानता। जो व्यक्ति इतने पर भी नित्य आत्मा को आच्छादित करने वाली स्थूल देह तथा सूक्ष्म मन के द्वारा आकृष्ट होता रहता है, वही अपने को भगवान् से भिन्न देखता है। यह भ्रान्ति पदार्थ के साथ मिथ्या पहचान के कारण होती है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कल्मष से रहित इन्द्रियों के द्वारा समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा करे। इस तरह की गई भक्ति त्रुटिरहित मानी जाती है।

जो व्यक्ति वैदिक साहित्यिक आदेशों की अवहेलना करता है, वह व्यर्थ ही मायामय कार्यों में अपनी इन्द्रियों की गतिशीलता को नष्ट करता है। वह झूठे ही अपने को भगवान् कृष्ण से भिन्न मानता है और इस तरह कल्पना करता है कि उसकी रुचि भगवान् की रुचि से स्वतंत्र है। ऐसे व्यक्ति द्वारा जीवन-स्थैर्य प्राप्त कर पाना असम्भव होता है क्योंकि काल के बाधक प्रभाव से कर्म का क्षेत्र निरन्तर बदलता रहता है। यदि भक्त भगवान् की भक्ति को छोड़ कर कोई रुचि उत्पन्न करता है, तो भगवान् से एकात्मता का उसका ध्यान विचलित होकर पलट जायेगा। जब मन भगवान् के चरणकमलों से विपथ होता है, तो भौतिक प्रकृति की द्वैतता मन में प्रधान हो उठती है और तब मनुष्य प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित कार्यक्रम चलाने लगता है। जो व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने सम्बन्ध में स्थिर नहीं होता वह निडर या स्थिर नहीं हो सकता और भगवान् श्रीकृष्ण की शरण से वंचित रह जाता है। इसलिए इस श्लोक में हुए वर्णन के अनुसार मनुष्य को अपनी पहचान चेतना के क्षुद्र कण के रूप में करनी चाहिए

जो परम चेतना, श्रीकृष्ण, से भिन्न नहीं है। इस प्रकार मनुष्य को कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्वीक्षेत—सतर्क अध्ययन द्वारा देखे; आत्मनः—आत्मा का; बन्धम्—बन्धन; मोक्षम्—मोक्ष; च—भी; ज्ञान—ज्ञान में; निष्ठया—स्थिरता द्वारा; बन्धः—बन्धन; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; विक्षेपः—इन्द्रियतृप्ति की ओर विचलन; मोक्षः—मोक्ष; एषाम्—इन इन्द्रियों के; च—भी; संयमः—पूर्ण नियंत्रण।

मुनि को चाहिए कि स्थिर ज्ञान द्वारा वह आत्मा के बन्धन तथा मोक्ष की प्रकृति को निश्चित कर ले। बन्धन तब होता है जब इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति की ओर चलायमान होती हैं और इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण ही मोक्ष है।

तात्पर्य : अपने नित्य स्वभाव को भलीभाँति समझ लेने पर मनुष्य पुनः भौतिक शक्ति के बन्धन में नहीं बँधता और परब्रह्म की निरन्तर सेवा में लगे रहने से वह मोक्ष प्राप्त करता है। तब चलायमान इन्द्रियाँ उसे भौतिक भोक्ता होने की मिथ्या चेतना की ओर नहीं खींच ले जायेंगी। ऐसा दृढ़ इन्द्रिय नियंत्रण उसे भौतिक इन्द्रियतृप्ति की यातना से राहत दिलाता है।

तस्मान्नियम्य षट्-वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नियम्य—पूरी तरह नियंत्रित करके; षट्-वर्गम्—छहों इन्द्रियों को (दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद तथा मन); मत्-भावेन—मेरी चेतना द्वारा; चरेत्—रहे; मुनिः—मुनि; विरक्तः—विरक्त; क्षुद्र—नगण्य; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; लब्ध्वा—अनुभव करके; आत्मनि—स्वयं में; सुखम्—सुख; महत्—महान।

इसलिए पाँचों इन्द्रियों तथा मन को कृष्णभावनामृत द्वारा पूर्ण नियंत्रण में रखते हुए, मुनि को अपने भीतर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करके, क्षुद्र इन्द्रियतृप्ति से विरक्त हो जाना चाहिए।

पुरग्रामव्रजान्सार्थान्भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पुर—शहर; ग्राम—गाँव; व्रजान्—तथा चरागाह; स-अर्थान्—जीवन-निर्वाह के लिए कार्य करने वाले; भिक्षा-अर्थम्—भीख माँगने के लिए; प्रविशन्—प्रवेश करते हुए; चरेत्—विचरण करे; पुण्य—शुद्ध; देश—स्थान; सरित्—नदियों; शैल—पर्वत; वन—तथा जंगलों सहित; आश्रम-वतीम्—ऐसे निवास-स्थानों वाली; महीम्—पृथ्वी।

मुनि को चाहिए कि वह पवित्र स्थानों में बहती नदियों के किनारे तथा पर्वतों एवं जंगलों के एकान्त में घूमे। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए भिक्षा माँगने के लिए ही, शहरों, ग्रामों तथा चरागाहों में प्रवेश करे और सामान्य कामकाजी लोगों के पास जाये।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, पुर शब्द बाजारों तथा व्यापारिक केन्द्रों वाले शहरों तथा कस्बों का द्योतक है और ग्राम छोटे-छोटे कस्बों का, जिनमें ऐसी सुविधाएँ नहीं होतीं। जो वानप्रस्थ या संन्यासी भौतिक आसक्ति से छूटना चाहता हो, उसे चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए दिन-रात कार्य करने वाले लोगों से दूर रहे और उनके पास उन्हें दान के कार्य में संलग्न करने के लिए ही जाय। जो लोग विश्व-भर में कृष्णभावनामृत का प्रचार कर रहे हैं, वे मुक्तात्मा माने जाते हैं अतएव वे भौतिकतावादी जीवों को कृष्ण-भक्ति में लगाने के लिए निरन्तर उनके पास पहुँचते रहते हैं। किन्तु ऐसे प्रचारकों को भी भौतिकतावादी जगत के सम्पर्क से बचना चाहिए, जब तक कि उन्हें कृष्णभावनामृत कार्य को अग्रसर करने के लिए आवश्यक न हो। आदेश यह है कि भौतिकतावादी जगत से व्यर्थ का नाता न जोड़े।

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्षणं भैक्ष्यमाचरेत् ।

संसिध्यत्याश्रमसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वानप्रस्थ-आश्रम—वानप्रस्थ आश्रम के; पदेषु—पद पर; अभीक्षणम्—सदैव; भैक्ष्यम्—भिक्षा माँगना; आचरेत्—सम्पन्न करे; संसिध्यति—आध्यात्मिक रूप से सिद्ध बनता है; आशु—तुरन्त; असम्मोहः—मोह से मुक्त; शुद्ध—शुद्ध; सत्त्वः—अस्तित्व; शील—भिक्षा से या बीन कर प्राप्त; अन्धसा—भोजन से।

वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले को चाहिए कि वह अन्यो से दान लेता रहे क्योंकि इससे वह मोह से छूट जाता है और शीघ्र ही आध्यात्मिक जीवन में सिद्ध बन जाता है। निस्सन्देह, जो इस विनीत भाव से प्राप्त भोजन से अपना पेट पालता है, उसका जीवन शुद्ध हो जाता है।

तात्पर्य : पाश्चात्य देशों के लोग सामान्यतया इतने मन्दबुद्धि होते हैं कि वे एक सन्त भिक्षुक तथा सामान्य हिप्पी में अन्तर नहीं कर पाते। सन्त भिक्षुक सदैव भगवान् की प्रामाणिक भक्ति में लगा रहता

है और उतना ही स्वीकार करता है जितने से जीवन-निर्वाह हो सके। प्रस्तुतलेखक को स्मरण है कि जब वह कृष्णभावनामृत संघ में आया तो वह एक उद्धत विश्वविद्यालय का छात्र था, किन्तु कृष्ण के नाम पर जब सड़कों पर भिक्षा माँगने लगा, तो तुरन्त ही विनम्र बन गया। यह विधि सैद्धान्तिक नहीं, अपितु अन्यो को आदर देने के लिए बाध्य करके मनुष्य जीवन को शुद्ध बनाने वाली है। जब तक कोई व्यक्ति अन्यो को सम्मान नहीं देता उसका भीख माँगना व्यर्थ है। यही नहीं, भीख माँगने से वह प्रायः बहुत अच्छा भोजन नहीं कर पाता। यह अच्छा है क्योंकि जब जीभ वश में हो जाय तो अन्य इन्द्रियो तुरन्त शान्त हो जाती हैं। वानप्रस्थी को अपने भोजन के लिए भिक्षा माँगने की शुद्धिकारक विधि कभी नहीं छोड़नी चाहिए और सामान्य लोगों को चाहिए कि सन्त भिक्षुक को, जो परमेश्वर के लिए उच्चतर कार्यों में लगा रहता है, मूर्खतावश हिप्पियो जैसा नहीं मानें।

नैतद्वस्तुतया पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति ।

असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्रचिकीर्षितात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतत्—इसे; वस्तुतया—चरम सत्य के रूप में; पश्येत्—देखे; दृश्यमानम्—प्रत्यक्ष अनुभव से दिखने वाला; विनश्यति—नष्ट हो जाता है; असक्त—आसक्ति रहित; चित्तः—चेतना वाला; विरमेत्—विरक्त हो ले; इह—इस जगत में; अमुत्र—तथा भावी जीवन में; चिकीर्षितात्—भौतिक प्रगति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों से।

मनुष्य को चाहिए कि जो भौतिक वस्तुएँ नष्ट हो जायेंगी, उन्हें चरम सत्य के रूप में न देखे।

भौतिक आसक्ति से रहित चेतना द्वारा उसे उन सारे कार्यों से विलग हो जाना चाहिए जो इस जीवन में तथा अगले जीवन की भौतिक प्रगति के निमित्त हों।

तात्पर्य : किसी को यह शंका हो सकती है कि एक भद्र पुरुष किस तरह पारिवारिक जीवन से विलग होकर भिक्षुक की तरह थोड़ा-सा भोजन करके रह सकता है। इसका उत्तर देते हुए यहाँ पर भगवान् कहते हैं कि अच्छे स्वादिष्ट भोजन तथा अन्य सारी भौतिक वस्तुओं को, यथा शरीर ही को, कभी चरम सत्य नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये स्पष्टया नाशवान वस्तुएँ हैं। उसे इस जीवन तथा अगले जीवन में ही ऐसे भौतिक कार्यक्रमों से अलग हो लेना चाहिए जो उसके मोह का वर्धन करें।

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।

सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मेत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; एतत्—यह; आत्मनि—भगवान् में; जगत्—ब्रह्माण्ड; मनः—मन; वाक्—वाणी; प्राण—तथा प्राण-वायु से; संहतम्—निर्मित; सर्वम्—समस्त; माया—भौतिक मोह; इति—इस प्रकार; तर्केण—तर्क-वितर्क द्वारा; स्व-स्थः—अपने में स्थिर; त्यक्त्वा—त्याग कर; न—कभी नहीं; तत्—वह; स्मरेत्—स्मरण करे।

उसे चाहिए कि भगवान् के भीतर स्थित ब्रह्माण्ड तथा मन, वाणी एवं प्राण-वायु से निर्मित अपने भौतिक शरीर को तर्क-वितर्क द्वारा भगवान् की मायाशक्ति का ही प्रतिफल माने। इस तरह अपने में स्थित होकर उसे इन वस्तुओं से अपनी श्रद्धा हटा लेनी चाहिए और उन्हें फिर कभी अपने ध्यान की वस्तु नहीं बनानी चाहिए।

तात्पर्य : प्रत्येक बद्धजीव इस जगत को अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति की वस्तु मानता है इसलिए भौतिक शरीर को अपनी वास्तविक पहचान मानता है। त्यक्त्वा शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को भौतिक जगत तथा भौतिक देह के साथ झूठी पहचान करना त्याग देना चाहिए क्योंकि दोनों ही भगवान् की माया के प्रतिफल हैं। उसे भौतिक जगत तथा भौतिक देह को फिर कभी इन्द्रियतृप्ति के विषयों के रूप में नहीं सोचना चाहिए, अपितु उसे कृष्णभावनामृत में स्थिर हो जाना चाहिए। भगवान् की भौतिक शक्ति चेतनारहित है, अतएव वह वास्तविक सुख का आधार नहीं बन सकती। स्वयं भगवान् ही एकमात्र परम चेतन जीव हैं। वे नितान्त आत्माराम हैं और विष्णु रूप में अकेले खड़े रहते हैं। एकमात्र विष्णु ही हमें जीवन की वास्तविक सिद्धि प्रदान कर सकते हैं, भौतिक प्रकृति की क्षुद्र कार्यप्रणाली नहीं।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्धक्तो वानपेक्षकः ।

सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—दार्शनिक ज्ञान के प्रति; निष्ठः—समर्पित; विरक्तः—भौतिक स्वरूपों से विरक्त; व—या तो; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; वा—अथवा; अनपेक्षकः—मोक्ष भी न चाहने वाला; स-लिङ्गान्—अनुष्ठानों तथा बाह्य विधानों सहित; आश्रमान्—किसी आश्रम से सम्बद्ध कर्तव्यों को; त्यक्त्वा—त्याग कर; चरेत्—आचरण करे; अविधि-गोचरः—विधि-विधानों की परिधि से बाहर।

ज्ञान के अनुशीलन के प्रति समर्पित तथा बाह्य पदार्थों से विरक्त हुआ विद्वान अध्यात्मवादी (योगी) या मोक्ष की भी इच्छा से विरक्त मेरा भक्त—ये दोनों ही, उन कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं, जो बाह्य अनुष्ठानों अथवा साज-सामग्री पर आधारित होते हैं। इस तरह उनका आचरण विधि-विधानों की सीमा से परे होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक जीवन की परमहंस अवस्था को बताता है, जिसमें अनुष्ठान करने या बाह्य साज-सामग्री तथा विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष की खोज करने वाला पूर्णतया स्वरूपसिद्ध ज्ञानयोगी या, इससे भी आगे, भगवान् का पूर्ण भक्त जो मोक्ष भी नहीं चाहता, वह और अधिक भौतिक व्यस्तता की इच्छा नहीं करता। जब कोई व्यक्ति मन को पूरी तरह शुद्ध कर लेता है, तो पापपूर्ण आचरण की सम्भावना नहीं रहती। विधि-विधान तो उनके लिए हैं, जो अज्ञान में रह कर कर्म करने की ओर उन्मुख होते हैं या निजी तृप्ति के लिए ऐसा करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण होता है, वह मुक्त होकर विचरण कर सकता है, जैसाकि भगवान् ने यहाँ कहा है। जो व्यक्ति अंधाधुंध मोटर-कार चलाना चाहता है या स्थानीय सड़क की हालत से परिचित नहीं होता, उसके लिए सड़क के चिह्नों का अनुशासन तथा यातायात के नियमों का पुलिस द्वारा लागू किया जाना आवश्यक होता है। किन्तु नितान्त सावधान चालक स्थानीय सड़कों की हालत से पूरी तरह परिचित रहता है। उसे न तो गति-सीमा तथा सावधानी के चिह्नों की आवश्यकता होती है न इन नियमों के लागू करने वाले अधिकारियों की। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता। वह सभी निषेधात्मक एवं विध्यात्मक आदेशों का स्वयमेव पालन करता है, जो कृष्ण का सदा स्मरण करना और उन्हें कभी न भूलना है। किन्तु किसी को बनावटी परमहंस भक्त के उच्च पद की नकल नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उसका आध्यात्मिक जीवन तुरन्त नष्ट हो जायेगा।

पिछले श्लोकों में भगवान् ने जीवन के विभिन्न आश्रमों के अनुष्ठानों, साज-सामग्री तथा अनुशासनों का विस्तार से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, संन्यासी त्रिदण्ड तथा कमण्डलु धारण करता है और विशेष ढंग से खाता-पीता तथा रहता है। परमहंस भक्त भौतिक जगत से सारी आसक्ति तथा रुचि त्याग देता है, जिससे वह वैराग्य के ऐसे बाह्य लक्षणों से आकृष्ट नहीं होता।

बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्या नैगमश्चरेत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

बुधः—यद्यपि बुद्धिमान्; बालक-वत्—बच्चे के समान (मान-अपमान का ध्यान न रखते हुए); क्रीडेत्—जीवन का भोग करे;
कुशलः—यद्यपि दक्ष; जड-वत्—जड़ व्यक्ति की तरह; चरेत्—कार्य करे; वदेत्—बोले; उन्मत्त-वत्—विक्षिप्त की तरह;
विद्वान्—विद्वान् होने पर भी; गो-चर्याम्—अनियंत्रित आचरण; नैगमः—वैदिक आदेशों में दक्ष होते हुए भी; चरेत्—सम्पन्न करे।

परम चतुर होते हुए भी परमहंस को चाहिए कि मान-अपमान को भुलाकर बालक के समान जीवन का भोग करे, परम दक्ष होते हुए भी जड़ तथा अकुशल व्यक्ति की तरह आचरण करे, परम विद्वान होते हुए भी विक्षिप्त व्यक्ति की तरह बोले तथा वैदिक विधियों का पंडित होते हुए भी अनियंत्रित ढंग से आचरण करे।

तात्पर्य : इस भय से कि कभी कभी लोग परम स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की जिस प्रकार अत्यधिक प्रतिष्ठा करते हैं, उससे उसका मन विचलित न हो जाये, परमहंस संन्यासी अपने पद को छिपाता है, जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है। ऐसा व्यक्ति न तो जनता को प्रसन्न करने का प्रयास करता है, न ही सामाजिक प्रतिष्ठा चाहता है क्योंकि उसके जीवन का मिशन भौतिक जगत से विरक्त रहना तथा भगवान् को सदैव प्रसन्न रखना है। यद्यपि वह सामान्य विधि-विधानों की उपेक्षा करता है, किन्तु वह पापी या अनैतिक नहीं बनता, प्रत्युत वह धार्मिक अनुष्ठानों की अवहेलना करता है जैसे विशेष प्रकार से वस्त्र पहनना तथा विशेष अनुष्ठानों एवं तपस्याओं का आचरण करना।

जिन भगवद्भक्तों ने भगवन्नाम का प्रसार करने में अपना जीवन अर्पित कर दिया है, उन्हें चाहिए कि कृष्णभावनामृत को इस दक्षता से प्रस्तुत करें कि आम जनता को सुहावना लगे और वे इसे स्वीकार कर सकें। जो लोग प्रचार-कार्य करते हैं उन्हें मिशनरी उन्नति के नाम पर अपनी प्रतिष्ठा को अग्रसर करने का प्रयास किये बिना, श्रीकृष्ण को लोकप्रिय बनाने की कोशिश करनी चाहिए। जो परमहंस कृष्णभावनामृत वितरण-कार्य में न लगा हो, उसे जनता के अभिमत से किसी प्रकार का लगाव नहीं रखना चाहिए।

वेदवादरतो न स्यान्न पाषण्डी न हैतुकः ।

शुष्कवादविवादे न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वेद-वाद—वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में; रतः—लगा हुआ; न—कभी नहीं; स्यात्—हो; न—न तो; पाषण्डी—नास्तिक, वैदिक आदेशों के विरुद्ध; न—न ही; हैतुकः—कोरा तार्किक या संशयवादी; शुष्क-वाद—व्यर्थ के विषयों के; विवादे—तर्क-वितर्क में; न—कभी नहीं; कञ्चित्—कोई; पक्षम्—पक्ष; समाश्रयेत्—ग्रहण करे।

भक्त को न तो वेदों के कर्मकाण्ड अनुभाग में उल्लिखित सकाम अनुष्ठानों में लगना चाहिए, न ही वैदिक आदेशों के विरुद्ध कार्य करके या बोल कर नास्तिक बनना चाहिए। इसी तरह उसे न तो निरे तार्किक या संशयवादी की तरह बोलना चाहिए न व्यर्थ के वाद-विवाद में

किसी का पक्ष लेना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि परमहंस भक्त अपने उच्च पद को छिपाता है, किन्तु अपने को छिपाने का प्रयास करने वाले के लिए भी कुछ कार्यों का निषेध है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि छिपाने के नाम पर उसे भूत-प्रेत नहीं बन जाना चाहिए। पाषण्ड शब्द द्योतक है वेदों का विरोध करने वाले नास्तिक दर्शन का यथा बौद्धमत। हैतुक शब्द द्योतक है भौतिक तर्क या प्रयोग द्वारा प्रदर्शित किये जा सकने वाले को मानने वाले का। चूँकि वेदों का सारा उद्देश्य उसे समझना है, जो भौतिक अनुभव के परे है, अतएव संशयवादी का तथाकथित तर्क आध्यात्मिक उन्नति के लिए असंगत है। श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में चेतावनी दी है कि भक्त को नास्तिक साहित्य नहीं पढ़ना चाहिए भले ही नास्तिकता का खण्डन उसका उद्देश्य हो। ऐसे साहित्य से पूरी तरह बचना चाहिए। उपर्युक्त निषिद्ध कार्य कृष्णभावनामृत की प्रगति में इतने अहितकर हैं कि इन्हें बाहरी दिखावे के लिए भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।

देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उद्विजेत—विचलित या भयभीत हो; जनात्—अन्य लोगों के कारण; धीरः—सन्त पुरुष; जनम्—अन्य लोग; च—भी; उद्वेजयेत्—डराये या विचलित करे; न—कभी नहीं; तु—निस्सन्देह; अति-वादान्—अपमानजनक या कटु वचन; तितिक्षेत—सहन करे; न—कभी नहीं; अवमन्येत—कम करके माने; कञ्चन—कोई भी; देहम्—शरीर; उद्दिश्य—के हेतु; पशु-वत्—जानवर के समान; वैरम्—दुश्मनी, शत्रुता; कुर्यात्—उत्पन्न करे; न—कभी नहीं; केनचित्—किसी से।

सन्त पुरुष को चाहिए कि वह न तो किसी के डराने या विचलित करने से डरे, न ही अन्य लोगों को डराये-धमकाये। उसे अन्यों द्वारा किया गया अपमान सहना चाहिए और कभी किसी को छोटा नहीं समझना चाहिए। भौतिक शरीर के लिए वह किसी से शत्रुता न उत्पन्न करे क्योंकि तब वह पशु-तुल्य होगा।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

तृणाद् अपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

“मनुष्य को चाहिए कि अपने को तिनके से भी निम्न मानते हुए विनीत भाव से भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित तथा अन्यो को सम्मान देने के लिए उद्यत रहना चाहिए। ऐसी मनःस्थिति में भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन किया जा सकता है।”

वैष्णव को चाहिए कि मन, वचन या शरीर से किसी अन्य जीव को विचलित न करे। उसे सदैव सहिष्णु होना चाहिए और अन्यो को छोटा नहीं मानना चाहिए। यद्यपि एक वैष्णव भगवान् कृष्ण के लिए असुरों के विरुद्ध कठोर कदम उठा सकता है—जैसाकि अर्जुन, हनुमान तथा अन्य अनेक भक्तों ने किया—किन्तु जहाँ तक अपनी ख्याति का प्रश्न है एक वैष्णव अत्यन्त विनीत होता है।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; एव—निस्सन्देह; परः—परम; हि—निश्चय ही; आत्मा—भगवान्; भूतेषु—सारे शरीरों के भीतर; आत्मनि—जीव के भीतर; अवस्थितः—स्थित; यथा—जिस प्रकार; इन्दुः—चन्द्रमा; उद—जल के; पात्रेषु—विभिन्न जलाशयों में; भूतानि—सारे शरीर; एक—एक परमेश्वर की; आत्मकानि—शक्ति से बने; च—भी।

एक ही परमेश्वर समस्त भौतिक शरीरों के भीतर तथा हर एक की आत्मा के भीतर स्थित है। जिस तरह चन्द्रमा असंख्य जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी तरह परमेश्वर एक होकर भी हर एक के भीतर उपस्थित है। इस तरह हर भौतिक शरीर अन्ततः एक ही भगवान् की शक्ति से बना है।

तात्पर्य : सारे भौतिक शरीर एक ही प्रकृति से बने हैं, जो अंततः एक ही परमेश्वर की शक्ति है। इसलिए किसी जीव के प्रति वैर-भाव को उचित नहीं ठहराया जा सकता। पृथ्वी पर भगवान् के मिशन को पूरा करने के लिए ईश्वर के प्रामाणिक प्रतिनिधि कभी भी किसी के प्रति ईर्ष्यालु या शत्रुवत् नहीं बनते, यहाँ तक कि उन्हें ईश्वर के नियमों का खुला उल्लंघन करने वालों द्वारा प्रताड़ित ही क्यों न किया जा रहा हो। प्रत्येक जीव अन्ततोगत्वा ईश्वर का पुत्र है और ईश्वर हर एक के शरीर के भीतर विद्यमान हैं, अतएव सन्तों को तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति या प्राणी के साथ बर्ताव करते समय भी अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध्वा—न मिलने पर; न—नहीं; विषीदेत—दुखी हो; काले काले—विभिन्न समयों पर; अशनम्—भोजन; क्वचित्—जो भी; लब्ध्वा—पाकर; न—नहीं; हृष्येत्—हर्षित हो; धृति-मान्—संकल्प वाला; उभयम्—दोनों (अच्छा भोजन पाने तथा न पाने पर); दैव—ईश्वर की परम शक्ति के; तन्त्रितम्—वश में।

यदि किसी को विभिन्न समयों पर उचित भोजन नहीं मिलता, तो उसे दुखी नहीं होना चाहिए और जब उसे अच्छा भोजन मिले तो हर्षित नहीं होना चाहिए। दृढ़ संकल्प करके उसे दोनों ही स्थितियों को ईश्वर के अधीन समझना चाहिए।

तात्पर्य : चूँकि हम भौतिक शरीर का भोग करना चाहते हैं अतएव नाना प्रकार के भौतिक अनुभवों से हमें क्षणिक सुख तथा अनिवार्य दुख मिलते हैं। हम मूर्खतावश अपने को नियंत्रक तथा कर्ता मान बैठते हैं और इस तरह झूठे अहं से हमें शरीर तथा मन की क्षणिक भावनाएँ सहनी होती हैं।

आहारार्थ समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

आहार—भोजन; अर्थम्—के हेतु; समीहेत—प्रयास करे; युक्तम्—उचित; तत्—व्यक्ति का; प्राण—जीवनी-शक्ति; धारणम्—धारण करते हुए; तत्त्वं—आध्यात्मिक सत्य; विमृश्यते—चिन्तन किया जाता है; तेन—मन, इन्द्रिय तथा प्राण के उस बल पर; तत्—वह सत्य; विज्ञाय—जान कर; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है।

आवश्यकता पड़े तो उसे चाहिए कि पर्याप्त भोजन पाने के लिए प्रयास करे क्योंकि स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए यह आवश्यक तथा उचित है। इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण के स्वस्थ रहने पर, वह आध्यात्मिक सत्य का चिन्तन कर सकता है और सत्य समझने पर वह मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : यदि भोजन अपने आप या भिक्षाटन से नहीं आ पाता, तो अपने शरीर तथा आत्मा को बनाये रखने के लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक कार्यक्रम में विघ्न न आये। सामान्यतया जो लोग आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे सत्य पर एकाग्र नहीं रह सकते, यदि उनके मन तथा शरीर कम खाने से क्षीण पड़ जाँय। दूसरी ओर अत्यधिक भोजन करना आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ा व्यवधान है, अतः उसे त्याग देना चाहिए। इस श्लोक में आहारार्थम् शब्द सूचक है आध्यात्मिक प्रगति के लिए अपने को स्वस्थ बनाये रखने के लिए ही भोजन करने का।

यह अनावश्यक रूप से भिक्षा-संग्रह का समर्थन नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक कार्यक्रम के लिए आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है, तो यह अधिक संग्रह उस भारी बोझ के समान बन जाता है, जो उसे भौतिक पद तक घसीट ले जाता है।

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।

तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—मनमाना; उपपन्न—अर्जित; अन्नम्—भोजन; अद्यात्—खाये; श्रेष्ठम्—उत्तम; उत—अथवा; अपरम्—निम्न जाति का; तथा—उसी तरह; वासः—वस्त्र; तथा—उसी तरह; शय्याम्—बिस्तर; प्राप्तम् प्राप्तम्—अपने आप मिल जाने वाला; भजेत्—स्वीकार करे; मुनिः—मुनि।

मुनि को चाहिए कि अपने आप मिल जाने वाला उत्तम या निम्न कोटि का जैसा भी भोजन, वस्त्र तथा बिस्तर हो, उसे स्वीकार करे।

तात्पर्य : कभी तो बिना प्रयास के उत्तम भोजन मिलेगा और कभी बेस्वाद भोजन प्राप्त होगा। अतः मुनि को चाहिए कि उत्तम भोजन मिलने पर न तो हर्षित हो न अपने आप मिलने वाले सामान्य भोजन को क्रोधवश ठुकराये। यदि भोजन नहीं आता, तो उसे भूखों नहीं मरना चाहिए। इन श्लोकों से प्रकट है कि मुनि में भी पर्याप्त व्यावहारिक बुद्धि होनी चाहिए।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ।

अन्यांश्च नियमाञ्जानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शौचम्—सामान्य स्वच्छता; आचमनम्—जल से हाथ साफ करना; स्नानम्—स्नान करना; न—नहीं; तु—निस्सन्देह; चोदनया—बलपूर्वक; चरेत्—सम्पन्न करे; अन्यान्—अन्य; च—भी; नियमान्—नियमित कार्य; ज्ञानी—जिसने मेरा ज्ञान प्राप्त कर लिया है; यथा—जिस तरह; अहम्—मैं; लीलया—स्वेच्छा से; ईश्वरः—परमेश्वर।

जिस तरह मैं भगवान् होते हुए, स्वेच्छा से अपने नैतिक कर्म करता हूँ, उसी तरह मेरा ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाले को सामान्य स्वच्छता बरतनी चाहिए, अपने हाथों को जल से साफ करना चाहिए, स्नान करना चाहिए और अन्य नियमित कार्यों को किसी दबाव से नहीं बल्कि स्वेच्छा से सम्पन्न करना चाहिए।

तात्पर्य : जब भगवान् इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे मानव जाति के समक्ष उचित दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए सामान्यतया वैदिक नियमों का पालन करते हैं। भगवान् स्वेच्छा से कार्य करते हैं

क्योंकि उन्हें कोई भी व्यक्ति बाध्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार ज्ञानी जो आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, उसे स्वेच्छा से शरीर-सम्बन्धी नैतिक कर्म करने चाहिए, विधि-विधानों के दास रूप में नहीं। ज्ञानी तो कृष्ण का दास होता है, विधि-विधानों का नहीं। तो भी एक योगी भगवान् की प्रसन्नता के लिए नैतिक कर्म निष्ठापूर्वक करता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति में बढ़ा-चढ़ा होता है, वह भगवान् की इच्छानुसार स्वतः हिलता-डुलता है। ज्ञानी कभी भी न तो भौतिक शरीर का दास बन सकता है, न शरीर से सम्बद्ध नियमों का। किन्तु इस श्लोक का तथा वैदिक शास्त्रों के अन्य ऐसे ही कथनों का गलत अर्थ लगाकर अनैतिक मनमाने आचरण को परिपुष्ट नहीं किया जा सकता। भगवान् कृष्ण जीवन की परमहंस अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। जो लोग भौतिक शरीर के प्रति आसक्त हैं, उन्हें इस परमहंस अवस्था से कुछ भी लेना-देना नहीं है, न ही उन्हें इस अद्वितीय पद का दुरुपयोग करना चाहिए।

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्बीक्षया हता ।

आदेहान्तात्क्वचित्ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; तस्य—ज्ञान का; विकल्प—कृष्ण से पृथक् किसी वस्तु की; आख्या—अनुभूति; या—जो; च—भी; मत्—मेरे; बीक्षया—ज्ञान द्वारा; हता—विनष्ट; आ—तब तक; देह—शरीर की; अन्तात्—मृत्यु; क्वचित्—कभी कभी; ख्यातिः—ऐसी अनुभूति; ततः—तब; सम्पद्यते—समान ऐश्वर्य पाता है; मया—मेरे साथ।

ज्ञानी किसी भी वस्तु को मुझसे पृथक् नहीं देखता क्योंकि मेरा ज्ञान हो जाने से वह ऐसी भ्रामक अनुभूति को नष्ट कर चुका होता है। चूँकि भौतिक देह तथा मन ऐसी अनुभूति के लिए पहले से अभ्यस्त होते हैं अतः ऐसी अनुभूति की पुनरावृत्ति हो सकती है, किन्तु मृत्यु के समय ऐसा ज्ञानी मेरे समान ही ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इस अध्याय के ३२वें श्लोक में कृष्ण ने बतलाया है कि सारी भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुएँ उनकी शक्ति की विस्तार हैं। भगवान् का ज्ञान होने पर मनुष्य यह भ्रम (मोह) त्याग देता है कि कोई भी वस्तु किसी भी समय और कहीं भी भगवान् कृष्ण से पृथक् है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने यह भी बतलाया है कि भक्ति करने के लिए शरीर तथा मन को स्वस्थ रखना चाहिए। इसलिए कभी कभी ज्ञानी व्यक्ति भी इस जगत में कुछ परिस्थितियों अथवा वस्तुओं को स्वीकार करते या उनका बहिष्कार करते देखा जा सकता है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तु पर दिखने वाला संक्षिप्त एकाग्रता का द्वैत,

ज्ञानी की मुक्तावस्था को परिवर्तित नहीं करता। उसे मृत्यु के समय वैकुण्ठ में भगवान् कृष्ण जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। मोह का कार्य ही है मनुष्य को कृष्ण से पृथक् करना किन्तु शुद्ध भक्त के आचरण या मनोवृत्ति में द्वैत का संक्षिप्त एवं सामयिक प्राकट्य उसे भगवान् से पृथक् नहीं करता। यह वास्तविक मोह नहीं होता क्योंकि इसमें मोह के अनिवार्य कार्य का—भगवान् कृष्ण से पृथक् करने का—अभाव रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने स्वरूपसिद्ध (ज्ञानी) भक्त का वर्णन इस प्रकार किया है। भगवद्भक्त किसी भी वस्तु को कृष्ण से पृथक् नहीं देखता, अतएव वह अपने को इस जगत का स्थायी निवासी नहीं मानता। वह हर क्षण भगवान् कृष्ण की सेवा करने के लिए इच्छुक रहता है। जिस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के प्रति उन्मुख लोग अपने भोग की व्यवस्था करने में समय बिताते हैं उसी तरह भक्तगण भी भगवान् की भक्ति करने की व्यवस्था करने में सारे दिन लगे रहते हैं। इसलिए उन्हें भौतिकतावादी इन्द्रिय भोक्ताओं की तरह कर्म करने के लिए समय ही नहीं बचता। सामान्य लोगों को ऐसा लग सकता है कि शुद्ध भक्त किसी वस्तु को कृष्ण से पृथक् देखता है किन्तु शुद्ध भक्त मुक्तात्मा के पद पर स्थिर रहता है और उसका भगवद्धाम में आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करना निश्चित है। सामान्य, भौतिकतावादी व्यक्ति भगवद्भक्तों के कार्यों को सदा नहीं समझ पाते, अतएव वे उन्हें अपने समान समझ कर उनके पद को घटा कर बताने का प्रयत्न कर सकते हैं। किन्तु जीवन के अन्त में भगवद्भक्तों तथा सामान्य भौतिकतावादियों को मिलने वाले फल बहुत भिन्न होते हैं।

दुःखोदकेषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् ।
अज्ञासितमद्धर्मो मुनिं गुरुमुपब्रजेत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

दुःख—दुख; उदकेषु—भावी फल के रूप में; कामेषु—इन्द्रियतृप्ति में; जात—उत्पन्न; निर्वेदः—विरक्ति; आत्म-वान्—जीवन में आध्यात्मिक सिद्धि का इच्छुक; अज्ञासित—ठीक से विचार न करने वाला; मत्—मुझको; धर्मः—प्राप्त करने की विधि; मुनिम्—ज्ञानी व्यक्ति; गुरुम्—गुरु के पास; उपब्रजेत्—जाये।

जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के फल को दुखदायी जानते हुए, उससे विरक्त है और जो आध्यात्मिक सिद्धि चाहता है, किन्तु जिसने मुझे प्राप्त करने की विधि का गम्भीरता से विश्लेषण नहीं किया है, उसे प्रामाणिक तथा विद्वान गुरु के पास जाना चाहिए।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाले (ज्ञानी) के कर्तव्य

का वर्णन किया है। अब वे आत्म-साक्षात्कार चाहने वाले ऐसे व्यक्ति की स्थिति बता रहे हैं, जो भौतिक जीवन से विरक्त हो चुका है किन्तु जिसमें कृष्णभावनामृत के पूर्ण ज्ञान का अभाव है। ऐसे व्यक्ति को कृष्ण-भक्त प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों में पहुँचना चाहिए तभी उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सच्चे मन से उन्मुख हो, उसे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक नियमित अनुशासन ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ।

यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; परिचरेत्—सेवा करे; भक्तः—भक्त; श्रद्धा-वान्—श्रद्धा समेत; अनसूयकः—ईर्ष्या-द्वेष के बिना रह कर;
यावत्—जब तक; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; विजानीयात्—अच्छी तरह जान लेता है; माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह;
गुरुम्—गुरु; आदृतः—आदर समेत।

जब तक भक्त को पूरी तरह आध्यात्मिक ज्ञान की अनुभूति न हो ले, उसे चाहिए कि परम श्रद्धा तथा आदरपूर्वक एवं द्वेषरहित होकर गुरु की सेवा करे, क्योंकि गुरु मुझसे अभिन्न होता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी *गुर्वृष्टक* प्रार्थनाओं में कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—गुरु की कृपा से ही मनुष्य को भगवान् की कृपा प्राप्त होती है। जिस भक्त को महान् आध्यात्मिक ज्ञान का आशीर्वाद प्राप्त होता है, वह भगवान् के मिशन में सीधे लगने के योग्य बन जाता है। श्रील प्रभुपाद सदैव कहा करते थे कि वैराग्य में गुरु की सेवा, गुरु के मिशन को अग्रसर करना, भक्ति का सर्वोच्च रूप है। इस श्लोक में *परिचरेत्* शब्द अपने गुरु की सेवा में लगे रहने का सूचक है। दूसरे शब्दों में, जिसे अपने गुरु की शिक्षाएँ ठीक से समझ में न आई हों, उसे चाहिए कि गुरु के निकट रहे जिससे पुनः मोह में न गिरे, किन्तु जिसे अपने गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह विश्व-भर में यात्रा करके अपने गुरु के मिशन का विस्तार कृष्णभावनामृत का उपदेश देने में कर सकता है।

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।

ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ ४० ॥

सुरानात्मानमात्मस्थं निहृते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; असंयत—वश में न करके; षट्—छह; वर्गः—कल्मष का प्रकार; प्रचण्ड—भयानक; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; सारथिः—चालक, बुद्धि; ज्ञान—ज्ञान का; वैराग्य—तथा वैराग्य; रहितः—विहीन; त्रि-दण्डम्—संन्यास आश्रम; उपजीवति—अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रयुक्त करते हुए; सुरान्—पूज्य देवताओं; आत्मानम्—अपने को; आत्म-स्थम्—अपने में स्थित; निहृते—अस्वीकार करता है; माम्—मुझको; च—भी; धर्महा—धर्म का विनष्ट करने वाला; अविपक्व—जो लीन न हो पाया हो; कषायः—कल्मष; अस्मात्—इस जगत से; अमुष्मात्—अगले जीवन से; च—भी; विहीयते—विपथ हो जाता है ।

जिसने छह प्रकार के मोहों (काम, क्रोध, लोभ, उत्तेजना, मिथ्या अहंकार तथा नशा) पर नियंत्रण नहीं पा लिया, जिसकी बुद्धि जो कि इन्द्रियों की अगुवा है, भौतिक वस्तुओं पर अत्यधिक आसक्त रहती है, जो ज्ञान तथा वैराग्य से रहित हैं, जो अपनी जीविका चलाने के लिए संन्यास ग्रहण करता है, जो पूज्य देवताओं, स्वात्म तथा अपने भीतर के परमेश्वर को अस्वीकार करता है और इस तरह सारा धर्म नष्ट कर देता है और जो अब भी भौतिक कल्मष से दूषित रहता है, वह विपथ होकर इस जन्म को तथा अगले जन्म को भी विनष्ट कर देता है ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उन व्यर्थ के पुरुषों की निन्दा करते हैं, जो स्थूल मोह के सारे लक्षणों से युक्त होते हुए भी, इन्द्रियतृप्ति के लिए संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। वैदिक सिद्धान्तों के बुद्धिमान अनुयायी संन्यास के झूठे दिखावे को कभी नहीं मानते। ऐसे तथाकथित संन्यासी जो वैदिक धर्म का विनाश करते हैं, कभी कभी मूर्ख लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे अपने को तथा अपने अनुयायियों को ठगते रहते हैं। ऐसे धूर्त संन्यासी वास्तव में भगवान् कृष्ण की सेवा में कभी नहीं लगे रहते ।

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भिक्षोः—संन्यासी का; धर्मः—मुख्य धार्मिक सिद्धान्त; शमः—समता; अहिंसा—अहिंसा; तपः—तपस्या; ईक्षा—भेदभाव (मन तथा शरीर में); वन—जंगल में; ओकसः—वास करने वाले का, वानप्रस्थ का; गृहिणः—गृहस्थ का; भूत-रक्षा—समस्त जीवों को शरण प्रदान करते हुए; इज्या—यज्ञ सम्पन्न करना; द्वि-जस्य—ब्रह्मचारी का; आचार्य—गुरु; सेवनम्—सेवा ।

संन्यासी के मुख्य धार्मिक कार्य हैं समता तथा अहिंसा जबकि तपस्या तथा शरीर और आत्मा के अन्तर का दार्शनिक ज्ञान ही वानप्रस्थ में प्रधान होते हैं। गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य हैं सारे जीवों को आश्रय देना तथा यज्ञ सम्पन्न करना और ब्रह्मचारी मुख्यतया गुरु की सेवा करने में

लगा रहता है।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी अपने गुरु के आश्रम में रहता है और स्वयं आचार्य की सहायता करता है। सामान्यतया गृहस्थों को यज्ञ करने तथा अर्चाविग्रह की पूजा का कार्य सौंपा जाता है। उन्हें सारे जीवों के लिए जीविका प्रदान करनी चाहिए। वानप्रस्थ को अपने वैराग्य का पद बनाये रखने के लिए शरीर तथा आत्मा के अन्तर को स्पष्ट समझना चाहिए और तपस्या भी करनी चाहिए। संन्यासी को आत्म-साक्षात्कार में पूरी तरह अपना शरीर, मन तथा वाणी लगाना चाहिए। मन की समता प्राप्त करके वह सारे जीवों का सर्वश्रेष्ठ शुभेच्छु होता है।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।

गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-चर्यम्—ब्रह्मचर्य; तपः—तपस्या; शौचम्—आसक्ति रहित मन की शुद्धता; सन्तोषः—पूर्ण सन्तोष; भूत—सारे जीवों के प्रति; सौहृदम्—मैत्री; गृहस्थस्य—गृहस्थ की; अपि—भी; ऋतौ—उचित समय पर; गन्तुः—अपनी पत्नी के पास जाकर; सर्वेषाम्—सभी मनुष्यों की; मत्—मेरी; उपासनम्—पूजा।

गृहस्थ को चाहिए कि सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही नियत समय पर अपनी पत्नी के साथ संभोग (सहवास) करे। अन्यथा वह ब्रह्मचर्य तपस्या, मन तथा शरीर की स्वच्छता, अपने स्वाभाविक पद पर संतोष तथा सभी जीवों के प्रति मैत्री का अभ्यास करे। मेरी पूजा तो वर्ण अथवा आश्रम का भेदभाव त्याग कर सबों को करनी चाहिए।

तात्पर्य : सर्वेषां मदुपासनम् सूचित करता है कि वर्णाश्रम प्रणाली के सभी अनुयायियों को भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, नहीं तो पद से नीचे गिरने का खतरा है। श्रीमद्भागवत (११.५.३) में कहा गया है—*न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः*—भले ही कोई वैदिक अनुष्ठानों तथा प्रथाओं को सम्पन्न करने में बढ़ा-चढ़ा हो, भगवान् की पूजा किये बिना वह निश्चित रूप से नीचे गिर जायेगा।

गृहस्थाश्रमियों को कूकरो-शूकरो की तरह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी संभोग-शक्ति का भोग करने का अधिकार नहीं है। धार्मिक गृहस्थ को नियत काल तथा स्थान में अपनी पत्नी के पास जाना चाहिए और भगवान् की प्रसन्नता के लिए सन्त स्वभाव की सन्तान पैदा करनी चाहिए। अन्यथा, यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि गृहस्थ को चाहिए कि उन्नत मानव सभ्यता के अन्य सदस्यों के साथ

ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे। शौचम् शब्द मन तथा शरीर की स्वच्छता का सूचक है या फिर आसक्ति तथा विकर्षण से पूर्ण मुक्ति का। जो व्यक्ति ईश्वर की पूजा परम नियन्ता के रूप में करता है, वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त किसी भी स्थिति में सन्तोष का अनुभव करता है। हर व्यक्ति के भीतर भगवान् कृष्ण का दर्शन करने से, वह भूत-सुहृत् अर्थात् सबों का शुभेच्छु मित्र बन जाता है।

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् ।

सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; यः—जो; स्व-धर्मेण—अपने नियत कर्तव्य द्वारा; भजेत्—पूजा करता है; नित्यम्—सदैव; अनन्य-भाक्—पूजा की अन्य सामग्री से नहीं; सर्व-भूतेषु—सारे जीवों में; मत्—मेरे; भावः—अवगत; मत्-भक्तिम्—मेरी भक्ति; विन्दते—प्राप्त करता है; दृढाम्—अटल।

जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरी पूजा करता है और जो सारे जीवों में मुझे उपस्थित समझता है, वह मेरी अविचल भक्ति प्राप्त करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट बतलाया गया है कि सम्पूर्ण वर्णाश्रम प्रणाली का चरम लक्ष्य भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति करना है, जिसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण विस्तृत रूप में करते आ रहे हैं। किसी भी वर्ण या आश्रम में मनुष्य को भगवद्भक्त होना चाहिए और एकमात्र उन्हीं की पूजा करनी चाहिए। प्रामाणिक गुरु भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि होता है और आचार्य की पूजा सीधे भगवान् के चरणकमलों में पहुँचती है। यद्यपि सामान्य गृहस्थों को कभी कभी वैदिक आदेश दिए जाते हैं कि वे विशिष्ट देवताओं या पूर्वजों की पूजा करें, किन्तु हर एक को स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् कृष्ण सभी जीवों के भीतर रहते हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है सर्वभूतेषु मद्भावः। शुद्ध भगवद्भक्त केवल भगवान् की पूजा करते हैं और जो मनुष्य शुद्ध भक्ति के पद तक नहीं पहुँच सकते हैं, वे देवताओं तथा अन्य सारे जीवों के भीतर भगवान् का ध्यान यह समझ कर तो करें कि सारी धार्मिक विधियाँ अन्ततोगत्वा भगवान् की प्रसन्नता के निमित्त हैं। प्रचार-कार्य के समय, शुद्ध भक्तों तक को सरकारी नेताओं तथा समाज के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों से पाला पड़ता रहता है, कभी कभी तो उनकी प्रशंसा करनी होती है और उनके आदेशों का पालन करना होता है। तो भी क्योंकि हर एक के भीतर परमात्मा रूप में स्थित भगवान् कृष्ण का भक्तगण सदैव ध्यान करते हैं, इसलिए वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए कार्य करते हैं,—किसी सामान्य व्यक्ति के आनन्द के लिए नहीं। वे व्यक्ति जो अपने वर्णाश्रम कर्तव्यों

के दौरान, विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं, उन्हें भी हर एक का आधार भगवान् को मानना चाहिए। उन्हें सारे कार्यकलापों से भगवान् को प्रसन्न करने में दत्तचित्त रहना चाहिए। जीवन की यह अवस्था ईश्वर-प्रेम कहलाती है और इससे वास्तविक मोक्ष प्राप्त होता है।

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—प्रेमाभक्ति से; उद्धव—हे उद्धव; अनपायिन्या—अचल; सर्व—समस्त; लोक—लोकों के; महा-ईश्वरम्—परमेश्वर को; सर्व—हर वस्तु की; उत्पत्ति—सृष्टि का कारण; अप्ययम्—तथा संहार का; ब्रह्म—परब्रह्म; कारणम्—ब्रह्माण्ड का कारण; मा—मेरे पास; उपयाति—आता है; सः—वह।

हे उद्धव, मैं सारे लोकों का परमेश्वर हूँ और परम कारण होने से, मैं इस ब्रह्माण्ड का सृजन और विनाश करता हूँ। इस तरह मैं परब्रह्म हूँ और जो अविचल भक्ति के साथ मेरी पूजा करता है, वह मेरे पास आता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध (१.२.११) में कहा गया है, कृष्ण को तीन रूपों में जाना जाता है—निर्विशेष ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा अन्त में सबों के उद्गम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में। भगवान् कृष्ण निर्विशेष दार्शनिकों को अपने शरीर की किरणों में लीन करते हैं, वे पूर्ण योगियों के समक्ष हृदय के स्वामी के रूप में प्रकट होते हैं और अन्त में अपने शुद्ध भक्तों को आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन हेतु अपने धाम वापस लाते हैं।

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्जातमद्गतिः ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात्समुपैति माम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्व-धर्म—अपना नियत कार्य करके; निर्णिक्त—शुद्ध करके; सत्त्वः—अपना जीव; निर्जात—पूरी तरह जानते हुए; मत्-गतिः—मेरा परम पद; ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान से; विज्ञान—तथा आत्म-ज्ञान से; सम्पन्नः—युक्त; न चिरात्—निकट भविष्य में; समुपैति—ठीक से प्राप्त करता है; माम्—मुझे।

इस तरह जो अपने नियत कर्म करके अपने जीवन को शुद्ध कर चुका होता है, जो मेरे परम पद को पूरी तरह से समझता है और जो शास्त्रीय तथा स्वरूपसिद्ध ज्ञान से युक्त होता है, वह शीघ्र ही मुझे प्राप्त करता है।

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।

स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

वर्णाश्रम-वताम्—वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायियों का; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; एषः—यह; आचार—प्रामाणिक प्रथा के अनुसार उचित आचरण द्वारा; लक्षणः—लक्षणों से युक्त; सः—वह; एव—निस्सन्देह; मत्-भक्ति—मेरीभक्ति से; युतः—युक्त; निःश्रेयस—जीवन की सर्वोच्च सिद्धि; करः—देने वाला; परः—परम ।

जो इस वर्णाश्रम प्रणाली के अनुयायी हैं, वे उचित आचार की प्रामाणिक प्रथाओं के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। जब प्रेमाभक्ति में ऐसे वर्णाश्रम कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, तो वे जीवन की चरम सिद्धि देने वाले होते हैं।

तात्पर्य : वर्णाश्रम प्रणाली के अनुसार विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के सदस्यों को अनेक परम्परागत कार्य करने होते हैं—यथा पूर्वजों को उनके पापफलों से बचाने के लिए पितरों की पूजा करना। ऐसे समस्त वैदिक अनुष्ठान, यज्ञ, तप इत्यादि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों पर अर्पित कर देना चाहिए। तब वे ही भगवद्धाम वापस जाने के दिव्य साधन बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत या श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति प्रगतिशील मानव जीवन का सार समाहार है।

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान्पृच्छति यच्च माम् ।

यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात्परम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; साधो—हे साधु उद्भव; भवान्—तुमने; पृच्छति—पूछा है; यत्—जो; च—तथा; माम्—मुझसे; यथा—साधन जिनसे; स्व-धर्म—अपने नियत कर्तव्य में; संयुक्तः—पूरी तरह लगा हुआ; भक्तः—भक्त होने से; माम्—मेरे पास; समियात्—आ सके; परम्—परम ।

हे साधु उद्भव, तुमने जैसा पूछा मैंने तुम्हें वे सारे साधन बतला दिये हैं, जिनसे अपने नियत कर्म में लगा हुआ मेरा भक्त मेरे पास वापस आ सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “वर्णाश्रम धर्म का वर्णन” नामक अठारहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।